



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2017; 3(4): 192-195

© 2017

www.anantaajournal.com

Received: 01-05-2017

Accepted: 02-06-2017

रवीन्द्र कुमार

शोधच्छात्र, पी०एच०डी०, संस्कृत
विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू,
भारत

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार भैरव याग

रवीन्द्र कुमार

प्रस्तावना

काश्मीर अद्वैत शैव दर्शन के उपजीव्य में 'शिवसूत्र' सर्वश्रेष्ठ त्रिकाचार धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें बाह्य जाप, पूजन, ध्यान, होमादि की अपेक्षा "अन्तः याग" शुद्ध चिन्तन पर अधिक काव्य दिया गया है। वास्तव में जीव शिवरूप ही है और शब्द अर्थ, चिन्तन में ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो शिव नहीं है।¹ क्योंकि वह शुद्ध संवित् है और वह संवेद्यमान होते हुये ही अपने विषय को प्रकट (प्रकाशित) करती है। अतः एव संवेद्यमान ही वस्तु स्वरूप प्राप्त होता है, न कि असंवेद्यमान (अप्रकाश्यमान) यह प्रकाशमानत्व प्रकाश से अभिन्न अन्य कुछ! अतः जीव शिवमय होने से सर्वमय है।² परन्तु वह अज्ञानवश इस रहस्य को समझता नहीं है। अतएव वस्तुओं को स्वाभिन्न शिवरूप समझने की अपेक्षा स्वभिन्न समझता है। यहीं से बन्धनरूप द्वैत का प्रारम्भ होता है, जिससे अशुद्ध विकल्परूप संसार का उदय होता है एवं जीव शुभाशुभ कर्म वश संसृति चक्र में फंस जाता है। अन्तः यज्ञ शुद्ध विकल्प अथवा शुभ ज्ञान ही होता है, जिससे संसार का हेतु अशुद्ध विकल्प क्षीण हो जाता है और पुनः भैरव रूपता की अनुभूति होने लगती है।³ इसलिये शैव साधक इसे भैरव याग कहते हैं। इसमें पर तत्त्व का सर्वत्र चिन्तन करने अथवा अशुद्ध विकल्परूप संसार का होम करने से जीव का शुद्ध चित्त ही इस प्रकार मनन त्राण धर्म मन्त्र होता है।⁴ इस ज्ञान यज्ञ अथवा शाक्त योग द्वारा चित्त पर विविध प्रकारों से यथार्थ ज्ञान अंकित अथवा आत्मस्वरूप अनुभूत हो सकता है, जिनमें मुख्य याग, होम, जाप, व्रत और योगादि हैं। यह शुद्ध विकल्प ही अन्तः यज्ञ, सत्तर्क भावना एवं भैरव याग कहा जाता है। से आत्मपरमेश्वर लाभ के लिये साक्षात् उपाय माना गया है।⁵ इस भैरव याग के प्रमुख प्रकार इस प्रकार शैवागम एवं शास्त्रों में निरूपित हैं।

याग

श्रीविज्ञान भैरव अनुसार भगवान् शिव भगवती पार्वती को बतलाते हैं कि साधक की समाधि अथवा समावेश दशा में अनुभूयमान आनन्दजन्य सन्तुष्टि ही याग अथवा देव यजन कहा जाता है, क्योंकि इससे सभी प्रकार के पापों का नाश और परमार्थ धर्म सर्वसम्पत् की रक्षा होती है।⁶ श्रीमद् अभिनव गुप्त अनुसार सभी पदार्थों का परमेश्वर ही आधार है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं ऐसे शुद्ध विकल्प को चित्त पर दृढ़ता से अंकित करने के लिये भावना द्वारा सभी भावों को परमेश्वर की ओर अर्पण करना ही याग कहा जाता है।⁷

होम

जहाँ शून्यातिशून्य पदवी की भी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती, उस बोध भैरव रूप अग्नि पंचभूत, इन्द्रिय, विषय भुवन तत्त्वादि संकल्प-विकल्पात्मक सकल जगत् आदि की कल्पना सहित प्रधान सहायक मन के साथ चित्ति रूपी सुवा द्वारा आहुति दे देना ही वास्तविक 'होम अथवा हवि' कहलाता है।⁸ सभी भाव परमेश्वर के तेज से ही बने हैं। ऐसे विचार को पूर्वरूप से रुढ़ बनाने के लिये भावना द्वारा परमेश्वर संविद् रूपी अग्नि में सभी पदार्थों का विलापन कर तद्रूप बना देना "होम" कहलाता है।⁹ ऐसा तन्त्रसार का मत है - इसके साथ-साथ स्वच्छन्दतन्त्र, योगिनीहृदयदीपिका, ज्ञानार्णवतन्त्र, सुभगोदभववासना, एवं गीता भी इस मत की पुष्टि करते हैं।

शिवसूत्रों में भगवान् शिव शरीर को ही हवि मानते हैं।¹⁰ जिसका क्षेमराज अनुसार तात्पर्य है कि स्थूल, सूक्ष्म, कारणादि भेद प्रमातृत्व के अभिमान वाला शरीर ही महायोगी द्वारा परासंवित्-चिदग्नि में हूयमान करना हवि कहलाता है।¹¹ स्वामी लक्षण अनुसार शैव योगी की होम क्रिया की सम्पत्ति में बाह्य ईंधन धी जब पुष्प तथा फलादि सामग्री की अपेक्षा नहीं रहती समग्र भेद अभेद में होम हो जाते हैं।¹²

Correspondence

रवीन्द्र कुमार

शोधच्छात्र, पी०एच०डी०, संस्कृत
विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू,
भारत

जप —

विश्वोत्तीर्ण विश्वमय परिपूर्ण शुद्ध एवं अनन्त परम तत्त्व अपना स्वभाव ही है — इस प्रकार अन्तः परामर्श ही “जप” कहलाता है, ऐसा अभिनवगुप्त का मत है।¹³

विज्ञान भैरव अनुसार परमभाव अर्थात् परमसत्ता में स्वभाव के रूप के बारे में बार-बार अनाहतनाद किया है कि मैं ही परमहंस शिव परम कारण हूँ।¹⁴ स्वच्छन्द तन्त्र में कहा गया है कि ऐसा भावना अथवा विमर्श करना ही जप है।¹⁵ स्वामी लक्ष्मण जू अनुसार सिद्ध हस्त योगी अकृत्रिम पूर्णाहन्ता में प्रविष्ट होकर जो कुछ भी शारीरिक चेष्टा करता है अथवा जैसा भी व्यवहार एवं प्राणों की चेष्टाओं का आचरण करता है, वह सारा उसके लिए “जप” ही बन जाता है, क्योंकि उसके लिए सभी चेष्टायें मन्त्ररूपता से ही स्फुटित होती हैं।¹⁶ महर्षि पत?जलि ईश्वर के स्वरूप की भावना करने को जप मानते हैं।¹⁷

श्रीकलिकाक्रम में निरूपित नीति अनुसार महामन्त्रात्मक अहविमर्श आरूढ़ के लिये जो-जो आलापादि व्यवहृत होता है वह-वह स्वात्म देवता के विमर्श में अनवरत आवर्तनात्मा होने से “जप” हो जाता है।¹⁸ भगवान् शिव इसी दृष्टिकोण से नित्य ही पराहं भावनामय साधक के लिए उसकी कथा वार्तालाप को ही जप अभिव्यक्त करते हैं।¹⁹ तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त अनुसार भाव और अभाव की कल्पना से रहित तद्रूपत्व संवितस्फुरण की स्थिति को “जप” कहा है।²⁰ जयरथ शिव के परावाक् स्वभाव अनाहतनादमय स्वरूप के बार-बार विमर्श करने को जप कहते हैं।²¹

व्रत

व्रत अन्न, जल, फलादि वस्तुओं का त्याग-विशेष अथवा किन्हीं नियम-विशेषों का ग्रहण यहाँ व्रत नहीं माना गया है, अपितु सर्वत्र एक जैसे परमेश्वर भाव को ही दृढ़ विश्वास से देखने के लिये शरीर, घटादि जड़ भावों को भी उसके रूप में ही अवलोकित करना “व्रत” कहा गया है।²²

शिवसूत्रों में योगी की शरीरवृत्ति अर्थात् अपने शरीर को बनाये रखना ही व्रत कहा गया है।²³ क्षेमराज अनुसार इससे तात्पर्य है शिवाहं भाव से वर्तमान योगी का शरीर वर्तन शारीरिक चेष्टायें करना अर्थात् शरीर धारण किये रहना ही “व्रत” है, क्योंकि वह स्वस्वरूप विमर्शात्मक नित्योदित परा पुजा में तत्परता के नियम में अनुष्ठित रहता है।²⁴

देह प्राणादि अवस्थित का ही शिवसामविष्टत्व कहा जाता है, जैसा कि श्री स्वच्छन्द तन्त्र में उक्त है।²⁵ इसलिए शिका में भी होती है।²⁶

स्नान —

स्वाचार में स्नान का प्रमुख स्थान होता है। जैसे बाह्य शुद्धि के लिये जलाशय तीर्थादि के जल में डुबकी लगाई जाती है, उसी प्रकार अद्वयनय में आन्तर शुद्धि के लिए जो अह स्वभाव आत्मा को सब तरह से स्वतन्त्र आनन्द चिन्मात्रस्वरूप का साक्षात्कार होने पर उसी में समाविष्ट (तल्लीन) हो जाने की स्थिति है, वह स्नान कही जाती है।²⁷ न तो मेरा बन्धन ही है और न मोक्ष ही, यह तो मल (अज्ञान) के कारण ही भासित होते हैं।

इस प्रकार की प्रतिपत्ति (विमर्शन) से अपने आपको निर्मल करना स्नान है। ऐसा सिद्ध सोमानन्द का मत है।²⁸ शिवसूत्र एवं उसकी विमर्शिनी में भी यही भाव अभिव्यक्त है।²⁹

पूजन —

विज्ञान भैरव अनुसार श्रीपरा देवी सहित भट्टारक भैरव की जैसे पुष्प, गन्ध, धूप आदि से पूजा की जाती है। फल मेवा खीर आदि से नैवेद्य लगाया जाता है, इसी प्रकार पूजन करने वाला, पूजा सामग्री और पूज्य सब एक ही अनुभव हाते हैं, वैसा ही यथार्थ “पूजन” है, द्वैतसृष्टि आश्रित सम्भव नहीं।³⁰ ऐसा ही मत महार्थम?जरी में परिमल में उद्धृत प्रभाकौल तन्त्र का है, कि

सर्वाकार निरामय परमसत्ता के बोध में स्थूल पूजन ही आवश्यकता नहीं रहती।³¹ मुझे पूजन से कोई तुष्टि नहीं होती एवं न ही पूजन के अभाव में कोई खेद ही होता है। मैं पूजक, पूज्य और पूजा में सदैव एकरत रहता हूँ। अतः मेरा पूजा सदा होती रहती है, ऐसी विमर्शन ही शिवदृष्टि में “पूजन” कहा गया है।³²

अभिनवगुप्त अनुसार सर्वव्यापक, सर्वात्मा, परमेश्वर में सदैव, सभी दशाओं में ऐक्यबुद्धि से मन का नियोजन ही परा पूजा है।³³ शैवाचार्य उत्पलदेव “पूजा” को परमेश्वरैक्य का आनन्द प्रसार मानते हैं। जबकि द्वैततिष्ठों के लिये यह ईश्वर प्राप्ति का उपायमात्र है।³⁴

जहाँ द्वैतभाव से पूजन से साधक फल-फूल में एवं विविध भौतिक पदार्थों को अपने इष्टदेव के चरणों में समर्पित करता है, वही अद्वयनय में उत्पलदेव साधक की आध्यात्मिक उन्नति एवं लोक में भी राग द्वेष के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह और अभिमान को भगवान् के समर्पित करना ही यथार्थ पूजन मानते हैं।³⁵ भगवान् श्रीकृष्ण भी हर्ष, आमर्ष, भय एवं क्रोधादि द्वन्द्वों से सर्वथा मूक्त (निरलिप्त) भक्त को सर्वश्रेष्ठ एवं प्रिय बतलाते हैं।³⁶ इसी प्रकार उत्पलदेव सकाम भक्त के तरह-तरह के प्रलोभनों एवं वासनाओं से ग्रस्त होकर पूजा करने की अपेक्षा इनको सरल शुद्ध मन सहित ईश्वर-अर्पण करने को ही उसकी श्रेष्ठ पूजाविधि मानते हैं।³⁷ द्वैतनिष्ठ पूजन में सांसारिक तत्त्व किसी न किसी रूप में बाधक बने रहते हैं, परन्तु अद्वैत पूजा महोत्सव में सभी छत्तीस तत्त्व आत्मसंवित् रूप भासित होने से साधक बन जाते हैं।³⁸

ध्यान

विज्ञान भैरव के अनुसार “ध्यान” उसे कहा गया है, जिसमें बुद्धि निश्चला (अत्यन्त स्थिर) निराकार (विविध आकारों से शून्य) निर्विकार परिणामों से रहित विशुद्ध और निराश्रया (कन्द त्र मूलाधार हृदय द्वादशान्तादि स्थानों का सहारा न लेने वाली) होती है।

साध्य देवता के शरीर, आँख, मुख, हाथ आदि की कल्पना करना यथार्थ ध्यान नहीं है।³⁹ सिद्ध सोमानन्द कहते हैं कि जिस किसी भी इन्द्रिय के द्वारा जिस किसी भी विषय का ज्ञान होता है, यदि उस-उस वस्तु में सम्यक् शिवता की ही होती है, यदि उस-उस वस्तु में सम्यक् शिवता की ही अनुभूति होती है तो “ध्यान” कहा जाता है।⁴⁰ श्री मृत्यु?जय भट्टारक में कहा गया है कि बुद्धि के सत्त्वादि गुणों को अतिक्रान्त कर नियति आकृति आदिरूपों से निष्क्रान्त हुये नित्य, व्यापक स्वयं प्रकाशध्वेय का विमर्श करना ही ध्यान होता है।⁴¹ पात?जलयोग के अनुसार चित्त के नाभि, हृदय मूर्ध्नि ज्योति, नासिकाग्र, जिहाग्र आदि स्थान में बुद्ध धारण होने के पश्चात् जो वहाँ ध्येयविषयक प्रतयय ज्ञानवृत्ति का सदृश प्रवाह है, वह ध्यान कहा जाता है।⁴²

अतः यह सालम्ब ध्यान है एवं शैव शास्त्रोक्त निरालम्ब ध्यान होने से श्रेष्ठ है।

दान

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में यज्ञ-तप को पवित्र करने वाला माना है और बुद्धिमानों को इसे करते रहने की सद् प्रेरणा भी प्रदान की है।⁴³ इनके सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेद बतलाकर सात्त्विक की प्रशंसा की है।

पुराणों एवं महाभारत आदि में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। सम्भवतया ऐसा मत लौकिक दृष्टिकोण से दिया गया है। शैवशास्त्र इसकी व्याख्या अध्यात्मपरक की दृष्टि से कहते हैं। शैवदर्शन के अनुसार आत्मपरमेश्वर का ज्ञान ही दान है।⁴⁴ क्षेमराज के अनुसार शिव समावेशशाली चैतन्यरूप आत्मा का साक्षात्कार ही दान है। अर्थात् स्वयं एवं जिज्ञासुओं को विश्वभेद खण्डित करके परिपूर्ण स्वरूप का ज्ञान प्रदान करना, माया (अज्ञान) बन्धन (मल) का शोधन करना और पारमार्थिक स्वभाव की इस प्रकार रक्षा करना, आत्मज्ञान अनुभूत करवाना ही यथार्थ दान (प्रदेय) वस्तु है।⁴⁵ ऐसे महापुरुष अपने दर्शन स्पर्शनादि से भवसागर से पार लगा देते हैं।⁴⁶

नर्तक

इस प्रकार सर्वदा स्वस्वरूप के विमर्श से आविष्ट हुआ तत्-तत् जगतादि भूमिका प्रपंच को स्वपरिस्पन्द लीला द्वारा ही स्वभिति में प्रकट करने से आत्मा नर्तक कहलाता है।⁴⁷ श्री नैशवासदेवी महेश्वर "नर्तक" संज्ञक देवकृत सत्व के सप्तम पटल में कहा गया है कि वह एक और अन्तरात्मा नर्तक है, दूसरी और परमेश्वर रूप में अपने परमार्थ स्वभाव का रक्षक है।⁴⁸ ऐसी ही बात श्री भट्टनारायण में भी कही है कि त्रिलोकरूप नाटक के साथ-साथ सचराचर सत्वों के बीजरूप माया को भी महेश्वर ने प्रस्तुत किया है और वे ही इसे संहत भी करने वाले हैं।⁴⁹ सर्वागम उपनिषद् श्री प्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है कि समस्त जगत के सुप्त होने पर संसार-नाटक के प्रवर्तक (क्तवकनबमत) एक ही परमेश्वर जागरूक होते हैं।⁵⁰

रङ्ग

जगत् नाट्य लीला प्रदर्शन हेतु आत्मा जिसमें अनुरक्त होता है अथवा जो उसके तत् तत् भूमिका ग्रहण का स्थान होता है, वह रंग मंच (जलम) यह अन्तरात्मा होता है, जो संकोच के अवभास सार वाला शून्यप्रधान अथवा प्राणप्रधान पुर्यष्टक रूप देह की अपेक्षा से अन्तः जीव कहलाता है। उसी में आसीन हुआ यह आत्मा स्वकारण परिस्पन्द क्रम से जगत् नाट्य को आभासित करता है।⁵¹ श्रीस्वच्छन्द तन्त्र में भी ऐसा ही कथन मिलता है कि पुर्यष्टक में समाविष्ट होने से जो सभी योगियों में भ्रमण करता है वह अन्तरात्मा है।⁵²

प्रेक्षक

इस प्रकार अन्तरात्मरूपी रंग स्थल में अभिनय करने वाले योगी की यक्षु आदि इन्द्रियां संसार नाट्य प्रकट करने में प्रमोद निर्भर स्वस्वरूप को अन्तर्मुखता से साक्षात् करती है एवं द्वैतभाव के नष्ट होने से आत्मानन्द के चमत्कार रस सम्पूर्णता को प्रदान करती है। अतः अन्तर्मुखीभाव सम्पन्न इन्द्रियां प्रेक्षक होती है।⁵³ धर्मराज नचिकेता को यही तथ्य कठोपनिषद् में अभिव्यक्त करते हैं।⁵⁴

संघर्ष सूची

1. तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावास्था न या शिवः।
भोक्तेव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥ स्प० का० 312
2. (क) चावन्नः वेदका एते नावद्बोधः कथं प्रिये।
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्व नास्त्यशुन्यस्ततः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥
(ख) शरीरी परमेश्वरः एवं मनुष्य देवमास्थ्य छन्नास्ते परमेश्वरः॥ आगम
3. विकल्प वलादेव जन्तवः बुद्धमात्मानमभिमन्यते।
सोऽभिमान संसार प्रति बन्धहेतुः।
अतः प्रतिद्वन्द्वरूपो विकल्प उदितः
संसार हेतुं विकल्पं दलयतीत्यम्युदयहेतुः। तं सां० पृ० 21
4. (क) चित्तमन्त्रः, शि० सू० 2६।
(ख) चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति चित्तं अन्तर अभेदेन विमृश्यते परमेश्वरस्वरूपम् अनेन इति कृत्वा मन्त्रः अत एव च परस्फुरतात्मकमनन धर्मात्मा, भेदयमय संसार प्रशमनात्मक त्राणधर्मता च अस्य निरुच्यते॥ शि० सू० वि० 2६।
5. (क) अपरिच्छिन्नसंविनमात्ररूपं तदेव च परमार्थं तदेव चाहम, अतो विश्वातीर्णो विश्वात्मा चाहम इति तथाविधि विकल्प प्रबन्ध एवं सत्तर्क इत्युक्तः। स एव च भावना भाष्यते। अस्फुटत्वाद् भूतमयमर्भमभूतमिव स्फुटत्वापादनेन भावयते यथा। तं सां० पृ० 21
(ख) सर्तक एव साज्ञात्तयोपायः। स च बहुप्रकारतया संस्कृतो भवति तद्यथा यागो, होमो, जपो व्रत योग इति। तं सां० पृ० 25

6. यणोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षण।
क्षपनात् सर्वपापनंत्रायात् सर्वस्य पार्वति॥ वि० भै० श्लो० 147
7. तत्र भावानां सर्वेषां परमेश्वर एव स्थितिः। नान्यात् व्यतिरिक्तमस्ति इति विकल्परुद्धिप्रसिद्धये परमेश्वर एवं सर्वभावापर्यायः। तं सां० पृ० 25
8. महाशून्यलये वो भूताज्ञाविष यादिकम्।
ह्यते मनसा सार्धं स होमश्चेतनासुचा॥ वि० भै० 146
9. (क) सर्वभावः पारमेश्वरतेजोमया इति रुद्धविकल्पप्राप्त्यै, परमेशसंविद नलतेजसि समस्तभावग्रासर सिकताभिमते ततेजोमणवशेषत्व सहसमस्त भावविलापनं होमः॥ तं सां० पृ० 26
(ख) एवं हृदम्बुजावस्थो याष्टव्यो भैरवोविभुः।
सवाह्याभ्यन्तरं कृत्वा पश्चचाधजनमारभेद॥ स्व० तन्त्र० 2६।54
(ग) धर्माधर्महविदीप्ते आत्मानौ मनसा सुचा।
सुषुम्नावर्त्सना नित्यमलवृत्तीर्जुहोम्यहम्॥ ज्ञा० तन्त्र 21६२9
(घ) नैदानैस्तर्पणेः सम्यम् विशुद्धैरमृतात्मभिः।
मदहन्ता करोमीदं विश्वं ह्य्यपुरस्सरम्॥ उ० वा० श्लो० 39
(ङ) सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राकर्मणि चापरे।
आत्म संयमयोगाग्नौ जुहति ज्ञानदीपिते॥ भ० गी० 4६२७
(च) ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मनैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥ भ० गी० 4६२४
10. शरीरं हविः। शि० सू० 218
11. सर्वैर्यत्प्रमातृत्वेन अभिसिक्तं स्थूलसूक्ष्मादिस्वरूपं शरीरं तत् महायोगिनः परस्मिन्
चिदग्नौ ह्यमानं हवि शरीर प्रमातृताप्रशमनेन सदैव चिन्मातृताभिनिविष्टत्वान्॥
शि० सू० वि० 2६४
12. अन्तरिन्धनसंभारमनपेक्ष्यैव नित्यशः।
जाज्वलीत्यखिलाक्षौध प्रसूतोग्रशिखी॥
बोधाग्नौ तादृश भावा विशान्तास्यस्य सन्महः।
उद्रेचयन्तो गच्छन्ति होमकर्म निमित्तताम्॥
13. एवं विधं तत् परं तत्त्वं स्वस्वभाव भूतम् इत्यन्तः परामर्शं जपः॥ तं भा० पृ० 26
14. अहमेव परेहंसः शिवः परमकारणम्।
भूयोभूयः परे भवते भावना भाव्यते हिया॥ वि० भै० 142
15. जपः सोऽय स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः॥ स्व० तं 4६३९९
16. श्लोकगायादि चत्किचिदादिमान्त्ययुतं चतः।
तस्माद्विदंस्तथा सर्व मन्त्रत्वेनैव पश्यति॥ त्रि० श० र० पृ० 120
17. तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ पा० यो० सू० 1६२८
18. तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः विमर्श परमा शक्ति सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी इति श्रीकालिकाक्रमनिठपितनीत्या महा मन्त्रात्मकाकृतकाहंविमर्शरुद्धस्य यधदालापादि तबादस्य स्वात्मदेवता विमर्शनानवरतावर्तनात्मा जपो जायते॥ शि० सू० वि० 3६२७
19. कया जपः॥ शि० सू० 3६२७
20. तात्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः॥ तं आ० 1६९०
21. तस्य शिवस्य स्वरूपं परावाकस्वभावम् आत्मरूपम् भूयो भूयः परामृश्यमानं जपः अतएव भावाभाव पदच्युत तन्मध्यस्फुरत्संवित्परामर्शसारः इत्यर्थः॥ त्रि० शो० भै० 11
22. परमेश्वर समताभिमानेन, देहस्यापि घटादेरत्यवलोकनं व्रतम्॥ तं सां० पृ० 27
23. शरीरवृत्तिव्रतम्॥ शि० सू० 3६२६
24. शिवतुल्यस्य योगिनः शिवाहंभावेन वर्तमानस्य, शरीरे वृत्तिव्रतं यत् तदेव व्रतम स्वस्वरूपविमर्शात्मकनित्योदितपर पूजातत्परस्य नियमेन अनुष्ठेयम् अस्य॥
शि० सू० वि० 3६२६
25. सुप्रदीप्ते यथा ब्रह्मौ शिखा दृश्यते चाम्बरे।
देहप्राणस्थितोऽत्यात्मा तदल्लीयेत तत्पदे॥ स्व० तन्त्र० 4६३९८

26. अव्यक्तलिङ्गान् दृष्ट्वा संभाषन्ते मरीचयः।
लिङ्गानं नोपसर्पन्ति अतिगुप्ततराः यतः॥ श्री कु० प?०
27. स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम्॥ वि० भै० 169
28. न में बन्धो न में मोक्षस्तो मलत्वेन संस्थितौ प्रतिपत्तयानया स्नानं
निर्मलीकरणं मतम्॥ शि० दृ० पृ० 7४7
29. (क) मग्न स्वचित्तेन प्रविशेत्। शि० सू० 3४21
(ख) श्रीमृत्युजिद्भट्टारकनिरूपितनीत्या प्राणायाम् ध्यान-धारणादि
स्थूलोपयान परित्यज्य स्वचित्तेन अविकल्परूपेण
अन्तर्मुखान्तरविमर्शचमत्कारात्मना संवेदनेन प्रविशेत् समाविशेत्
कीदृक् सन। मग्नः शरीर प्राणादि प्रमातृतां तत्रैव चिच्चमत्कारसे
मज्जनेन प्रशमयन्। शि० सू० वि० 3४21
30. पैरेवपूज्यते द्रव्यैस्ताप्यते वा परापरः।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम्॥ वि० भै० 150
31. यावत् तत परमं शान्तं न विजानन्ति सुन्दरि।
तावत् पूजाजप ध्यान-होमलिङ्गार्चनादिकम्॥
विदिते तु परे तत्त्वे सर्वाकारे निरामये क्व पूजा
क्व जपो होमः क्व च लिङ्गपरिग्रहः॥ प्र० कौ० तं० 1
32. पूजानान्नास्ति में तुष्टिर्नास्ति वेदोह्यनपूजनात्।
पूजाकैरविभेदेन सदा पूजेति पूजनम्॥ शि० दृ० 7४92
33. एवमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा।
ऐक्यबुद्ध्या तु सर्वशे मनोदेव नियोजयेत्॥ महा० उप० वि० 20
34. उपचारपदं पूजाकेषांचित्त्वत्पदाप्तये भग्नानां
भवैदकात्यभ्यानिर्वृतिप्रसरस्तु सः॥ उ० स्तो० 17४40
35. कामक्रोधाभिमानैस्त्वामुपहारीकृतैः सदा।
येऽर्चयन्ति नमस्तोम्यस्तेषां तुष्टोऽसि तत्त्वत्तः॥ शि० स्तो०
17४47
36. हर्षामर्षभयक्रोधौमुक्तो यः स च में प्रियः। भ० गी० 12४15
37. अशेषवासनाग्रन्थिविच्छेदसरलं सदा।
मन निवेधते भक्तैः स्वादु पूजाविधौ तव॥ शि० स्तो० 17४15
38. कोऽप्यसौ जयति स्वामिन्भवतपूजामोहत्सवः।
षट्त्रिंशतोऽपि तत्वानां क्षोभो यत्रोल्लसत्यलम्॥ शि० स्तो०
17४30
39. ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकार निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुश्वहस्तादि कल्पना॥ वि० भै० 143
40. येन येनेन्द्रियेणार्थो गृह्यते तत्र तत्र सा।
शिवता लक्षिता सत्या तद्वयानमिति वर्ण्यते॥ शि० दृ० 7४79
41. धीगुणम् समतिक्रमय निर्धेयाव्ययं विभुम्।
ध्यात्मा ध्येयं स्वसंवेध ध्यान तच्च विदुर्बुधाः॥ नै० रा० 8४15
42. प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। पा० यो० सू०
43. यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञोदान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ भा० गी० 18४5
44. दानमात्मज्ञानम्। शि० सू० 3४25
45. चेतन्यरूपस्य आत्मनोयत् ज्ञानं साक्षात्कारः, ततः अस्य दानम्
दीयते (दा जव हपअम) परिपूर्ण स्वरूपम् दीयते, (दो जव
बनज) खण्डयते शिवभेदः, दायते (दौ जव अमतपलि) शोध्यते
माया स्वस्वरूपम् दीयते (दी जव चतमेमतअम) रक्ष्यते लब्धः
शिवात्मा स्वभावश्च अनेन इति कृत्वा अथ च दीयते इति दानम्
आत्मज्ञानमेव अनेन अन्तेवासिभ्यो दीयते।
शि० सू० वि० 3४28
46. दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि वितताद्भवागरात्।
तरयिष्यन्ति योगीन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः। शि० सू० वि०
(तदेव)
47. ईदृशश्चायं सर्वदा स्वस्वरूपविमर्शाविष्टः नर्तक आत्मा॥ शि०
सू० 3४9
48. त्वमेकांशेनान्तरात्म नर्तकः कोशरजिताः। शि० सू० वि०
49. विसृष्टाशेषसद्बीजगर्भ त्रैलोक्यनाटकम्।
प्रस्ताव्य हर संहर्तुं त्वत्तः कोऽन्य कविः क्षमः॥ स० वि० 59
50. सर्वागमोपनिषाद् श्रीप्रत्यभिज्ञायाम् संसारनाट्यप्रवर्तीयता सुप्ते
जगति जागरुक एव परमेश्वरः। शि० सू० वि० 3४9
51. रङ्गोऽन्तरात्मा। शि० सू० 3४10
52. पुर्यष्टकसमावेशाद्विचरन्सर्वयोनिषु अन्तरात्मा स विज्ञेयः॥ स्व०
तं० 11४85
53. इत्यमन्तरत्तरङ्गे नृत्योऽस्य – प्रेक्षकारणीन्द्रियाणि। शि० सू०
3४11
54. कश्चिद्धीर प्रत्यमात्मनमेक्षप आवृत्तंचक्षुरमृतत्वमरणन। कठो०
उप० 2४411